सन्नाटा
चुप
नहीं है

नीलम श्रीवास्तव
की
कविताएँ

अप्रस्तुत प्रकाशन, कलकत्ता

सन्नाटा चुप नहीं : नीलम श्रीवास्तव की कविताएँ
अप्रस्तुत प्रकाशन, ५ए, ग्रीक चर्च रो,
कलकत्ता-७०००२६
द्वारा प्रकाशित
भागचन्द सुराना, सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स,
२०५, रवीन्द्र सरणी,
कलकत्ता-७ द्वारा मुद्रित
मूल्य : बीस रुपए
प्रथम संस्करण : २६वीं सितम्बर, १६८५

प्रियबन्धु नवल को
जिसके लिए कविता मिशन है
और मैं
ऐकान्तिक स्नेह-भाजन

नीलम श्रीवास्तव

अनुक्रम



सन्नाटा
चुप
नहीं है

प्रार्थना

सही बात कहने के सिवा
मेरे पास अब कोई चारा नहीं,
और वह यह
कि मैं विषैली गैसों के
अनवरत स्राव में डूबा हुआ
किसी को भी देख नहीं सकता।
ओ, अन्तराल के छूटे सीमान्त!
मुझे क्षमा करो।

स्मृति की रौंदी हुई घाटी से
गुज़रता है—
झुर्रियों भरा बूढ़ा आकाश
डबडबाई आँखो वाली धरती
अनेक-अनेक रंगों के
फूल-कुंज-जलप्रवाह
जिनका अब मेरे लिए
कोई अर्थ नहीं।

मेरी आँखो के सामने
सिर्फ़ कौवों की असमाप्त कतार है
जिनकी चोंचो के लाइलाज घाव
किसी भी स्मृति को जीने नहीं देते।

ओ, अन्तराल के छूटे सीमान्त!
मुझे क्षमा करो मेरी दायित्वहीनता के लिए
और कर सको तो सिर्फ इतनी दुआ करो
कि जो चकमक
मैं अपने रक्त-रंजित हाथों से रगड़ता हूँ
उससे कोई चिन्गारी उपज जाए
और काली धूप का बदनसीब चेहरा
फिर से उजल जाए!

सन्नाटा

यह पनाह की जगह नहीं,
अँधेरे वैकुअम में भी,
तीखे डंकोंवाली मक्खियाँ रहती हैं,
भरोसा क्या है इस जर्जरित मकान का !
हो सकता है मुद्दतों से कैद हवा
पागल कुत्ते से अधिक ज़हरीली हो गई हो
जिसके बीच हमें—मृत्यु के पहले
उस दर्द का भी अहसास न हो
जो शरीर का कोई हिस्सा काटे जाने पर होता है ।

अच्छा नहीं हुआ
चढ़े दिन की सचाइयों से घबराकर
भाग आना,
आँखों पर पट्टी बाँध लेने से
जलती हुई आग बुझ नहीं जाती !

और अब तो हमारी खाल के साथ
फ़ासफ़ोरस के पिण्ड के पिण्ड सिल दिए गए हैं
क्या जाने किस समय कसमसायेगा
सूखा मौसम
भभक कर जल उठेंगे फ़ासफ़ोरस के पिण्ड
कि चिंदी-चिंदी होकर बिखर जायेगा
विश्वसनीय हाथों से कसा हुआ नाड़ी-संस्थान
जैसे भीमकाय पहाड़ डायनामाइट से बिखर जाता है।

क्या करेगा ऐसी हालत में
यह जर्जरित मकान
पुरखों के गंगाजली ममत्व का घेरा!
उसकी तो खिड़कियाँ-दरवाज़े क्या
छतें दीवारें भी कभी के निगल चुके हैं
सफेद और काले रंग वाले कीटाणु;
सिर्फ एक ढाँचा खड़ा है
बड़े हरूफ़ों वाली किताब सा
समूलतः जल जाने के बाद भी
जिसकी लिखावट यकायक मिट नहीं पाती।

सुरक्षा की कहीं कोई शर्त नहीं—
समझदारी ज़रूर है कि
निकलकर खड़े हो जाएँ इस कब्रिस्तान में
जिसका सिलसिला यह है कि
पल-प्रतिपल मरता हुआ इन्सान भी
चीखता है
झंडे उठाता है नारे लगाता है
मृत्यु का आतंक भी भोगता है
और जीने की यातना भी।

वहीं कहीं तड़प रही होगी
सन्नाटे की प्रसव-पीड़ा
एक अजात सम्भावना!

निर्वासिन

हम कहाँ से कहाँ आ गए
जहाँ न सूरज की कोई हैसियत है
न चन्द्रमा की कोई मान्यता !
एक निष्ठुर अस्वागतता के वातावरण में
किसी पागल के टुकड़े-टुकड़े गीत की तरह
हवा बेअसर घूम रही है ।
पता ही नहीं चलता कि मौसम की
ड्योढ़ियों में नए फूल कब सजते हैं
उन फूलों का नाम क्या होता है !

एक सीमा तक यादों का दर्द भी महकता है।
रंगों को मोहक वैविध्य

दरअस्ल सपने देते हैं
लेकिन जहाँ यादें नन्ही किश्तियों की तरह
आतंक की प्रचण्ड भँवर में समा जाएँ
और सपने इन्द्रधनुष-सेतु की तरह
तेज़, गर्म हवा में विलीन हो जाएँ
तो समय एक ऐसा वैकुअम पैदा कर देता है
कि हर फूल बर्फ़ का गेंद नज़र आता है
हर सरगम के कंठ में जम जाते हैं
दीर्घ, सर्द लमहे
और हँसी और रुदन की अभिव्यक्ति
का फ़र्क़ समाप्त हो जाता है।

पाँवों के नीचे ज़मीन होने का अहसास-
ज़मीन में किरनों का बीज बोना-
मेघ के पानी भरे हाथों का पोषण-
अपनी ही सामर्थ्य और आस्था का सबूत है।
लेकिन जहाँ प्रत्याशा में फैली हुई लाल-नरम
हथेलियों पर पतझर के पत्ते झरते हों और
दिशा-शकुन की उत्कंठा में उठे हुए
नन्हे-नन्हे पैर
वज़नी पत्थरों के बोझ से जड़ हो रहे हों
वहाँ ऐसा कोई दरपन नहीं बचता
जिसमें अपनी सार्थकता का
एक भी बिम्ब उभरता हो।

चारों ओर से बेहद सगी आँखें
पथ जोहती आँखें
बुझी, उदास आँखें
संवेदना के अन्तःकक्षों में प्रविष्ट हो जाती हैं
अपने रोयें-रोयें से नकार की ध्वनि उठती है
और अस्तित्व
ऊँचे पहाड़ और विक्षुब्ध सागर के बीच
निर्वासन झेलने को विवश हो जाता है।

पहाड़

यह कैसी माया है, राम !
दूर पर जो कंचन-नीर सी जगमगाती है,
अकलंक, हीरक-हँसी सी कौंध जाती है,
वह चका चौंध
करीब जाने से ही गायब हो जाती है।

जैसे-जैसे मैं ललचाये बालक सा
उसकी ओर बढ़ता हूँ
दूर-दूर तक खड़े पेड़ छिप जाते हैं,
गुम हो जाते हैं पशु,
रखवाले, किसान
नन्हे, छोटे मकान
बस, रोशनी में फूले हुए
कुछ विराट देवनुमा चेहरे दिखाई देते है
और पृष्ठभूमि में खड़े रहते हैं
कंचन-नीर से नहाये हुए पहाड।

अब तो वे चेहरे भी बदरंग होने लगे हैं
पिघल-पिघल कर गुम होने लगे हैं
बहुत करीब से देखता हूँ
अब, केवल पहाड़ दिखाई देते हैं
क्रूर, संगदिल, विजय की मुद्रा में
क्रमशः ऊँचे होते हुए
व्यवस्थित पहाड़ दिखाई देते हैं।

सीमाहीन एकान्तों का जंगल

बार-बार पाँव फिसलते हैं रकाबों पर
टूट चुकी है सुनहले धागों की बागडोर
तरबतर है पसीने से अयाल
यह फेन उगलता हुआ अश्व अभी दह जायेगा
हे ईश्वर ! कहाँ आ फँसा हूँ मैं !

यहाँ समझ से परे आवाज़ें हैं
लगता है, कोई अतीत कथा-नायक बोल रहा है,
कोई भविष्यवक्ता यहीं कहीं
झाड़ों-झंखाड़ों में डोल रहा है,
नहीं ये आवाज़ें परिन्दों की हैं ; या मेरा भय
मुझे भींच रहा है……

अतीत खूबसूरत रहा हो या बदसूरत
अब तो प्रेत है और भविष्य
एक दिवास्वप्न के सिवा क्या हो सकता है
जहाँ वर्तमान तक न हो !

यह एकान्तों का सीमाहीन जंगल !
कई साये सरसराते हैं
बाँस-पोरों में रो रही है हवा
चरमराती हैं नई पत्तियाँ-लताएँ
रौंद रहा है कोई खूँखार दरिन्दा
कहीं चिराग़ लपका है !—ना, कोई जुगनू है
भारी साँसें—कोई हाँफ रहा है
सारा का सारा जंगल
एक अजीब आतंक से काँप रहा है।

हे ईश्वर ! कहाँ आ फँसा हूँ मैं !
लौटकर जा भी तो नहीं सकता
वसीयत में मिला अश्व दम तोड़ चुका है।

चेहरे की भाषा

यों तो
हर रोज़ सूरज निकलता है
सूर्यास्त होता है

लेकिन अलग है समय की वह पहचान
जो चेहरे पर सूर्यमुखी वन्दना या
सूखे पत्तों का विलाप रच जाती है।

इसलिये जब कभी
मौसम का हाल जानना हो
तो न आकाश को निहारो
न दिशाओं से जिरह करो
उस आदमी के चेहरे को देखो
जो धूप और मिट्टी के बहुत क़रीब है।

वह चेहरा ही सबसे ज़्यादा सही है
वही हर मौसम की निजी डायरी-
रोजनामचा-बही है।
वहाँ लिखा हुआ मिल जायेगा—
पानी और प्यास का हिसाब
फ़सलों का भूख से रिश्ता
कपड़ों से देह की दूरी
मकानों और नंगी धरती का संवाद···

जो भी लिखा है—वह शब्दहीन हो सकता है
फिर भी वही सार्वजनिक भाषा है
जिसमें न कोई चातुरी है, न कोई अभिनय है
वह हर अँधेरे-उजाले का
निष्कपट परिचय है।

इसलिये जब कभी युग-संवत्सर
सूरज या अमावस की बात करो
पहले आदमी के चेहरे को पढ़ो
जो धूप और मिट्टी के
बहुत क़रीब है
उसे समझने के लिए
तुम्हें ज़रा खुद को समझना होगा!

सार्वजनिक भाषा

तुम्हें मेरी खामोशी पर ताज्जुब होता होगा
मगर मैं क्या कहूँ ; मेरे पास कोई
भाषा नहीं है ।

यों यह बात नहीं है कि गूँगा हो गया है मन
भीतर शब्द चलते हैं, संवाद रचते हैं
घुमड़ते है निकासी के लिए आतुर
लेकिन आँखों और कानों तक थपेड़े मारती
घुड़सवार आवाज़ों के सामने
अपना अर्थ-विश्वास खो देते हैं ।

जब आँखों के सामने चाबुक और
संगीन की लपलपाती धार हो
तो नज़र
न धरती को गवाह बना सकती है
न माँग सकती है आकाश से
रोशनी का ताज़ा कोई टुकड़ा ।
दरअस्ल हवा ही सबसे ताक़तवर चीज़ है
वह जब अपने पूरे गरूर से हरहराती हो

और दूसरी आवाज़ों को नापसन्द करती हो
तो मुश्किल है रोशनी के टुकड़ों
और धरती की गवाही से किसी
सार्वजनिक भाषा की अकाट्य स्थापना।

एक ही शब्द
एक जैसे मुहावरे
भिन्न-भिन्न शक्लों में लड़ते, टकराते है
क्या कहूँ ! ऐसी विसंगति पैदा हो गई है
कण्ठ और कानो की भाषा में
कि अपनी ही चीख अविश्वसनीय लगने लगी है
हो सकता है कल
यंत्रणाओं की अनुभूति से
खुद को ही लज्जा महसूस होने लगे
(वैसे तो अब लज्जा भी जैसे
ग़ैरसामाजिक भाव हो गया है)

हवा के लगातार
असाधारण दबाव में
इतना ठस-काठ हो गया है वातावरण
कि लम्बी-चौड़ी, भरी हुई सड़क पर
अगर आदमी के होठों को चमड़े से सिल दिया जाए,
आँखो पर अलकतरा पोतकर
उसे जोंकों से भरे हौद में बाँध दिया जाए
तो भी अनुशासित हड्डियों में
कोई हरकत नहीं होगी।

हर दृश्य की व्याख्या के लिए
दूसरों की मोहताज़ आँखें
एक गूँगे अँधेरे के सिवा
और कौन सी भाषा गढ़ सकती हैं !

[रचनाकाल-उत्तरार्द्ध १६७५]

तिलस्म की चाभी

माँ, मुझे बताओ
उस तिलस्म की चाभी कहाँ है !

तुम तो केवल कहानी सुनाती रही हो
कि वह एक लम्बी-चौड़ी जगह है
पहाड़ों-झीलों और समुद्रों तक फैली हुई
जाने-अनजाने शोर या सन्नाटे से भरी
बिलकुल आम जगहों जैसी
जहाँ खतरे का एक भी निशान नहीं है ।

लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि
सड़क का कोई टुकड़ा
सुरंग का दरवाजा हो जाता है,
पिंजड़े सा जकड़ लेता है
सीदी-सादी दीखती इमारतों का कोई भी कमरा
जो पैर रखते ही ज़मीन में समा जाता है
और भूगर्भीय तिलस्मी महल में
आदमी को पुतले की दशा में
तब्दील कर देता है ।

तुमने बताया है माँ,
उस तिलस्मी महल में
आदमी को एक स्याह पानी वाले ताल में
नहलाया जाता है ।
और फिर उसकी तमाम इन्द्रियों का रिश्ता
उसके दिमाग से टूट जाता है

चेहरे पर मँडराती है निर्मेघ
गरजते आकाश की परिछाइयाँ,
सच्चाइयों को ढक लेती है नकली गहनों की चमक
और पेट—चुम्बक पर रखे स्पंज की तरह
मौसमों का रंग सोख लेता है,
आदमी मशगूल हो जाता है
उन कामों को अंजाम देने में
जिनसे अक्सर उसका दिमाग़ नफ़रत करता है ।

ओ माँ ! मेरी प्रज्ञा !
मुझे बताओ
उस तिलस्म की चाभी कहाँ है ?
अब वक्त नहीं है इतिहास को लोरी की तरह सुनने
और भूलों को थपकियों की तरह सहकर सो जाने का ।
इसके पहले कि कोई हंस-वेशधारी बाज
या रामायण की तरह खुलती क़िताब
स्पर्श करते ही मुझे निगल जाए
और एक पुतले की हालत में तब्दील करदे,
मैं उस ताल के बीच
खड़े ऊँचे वृक्ष से
प्लेटिनम का पिंजड़ा उतार लाऊँगा
और उस तोते का गला टीप दूँगा
जो भाषा को रंगीन द्रवों में डुबाकर
बड़बोले जुमले हर आदमी की जुबान पर रख देता है
और टेबुलों से मंचों तक
चोंचलेबाज़ पुतलियों का खेल सजाकर
अन्तःपुर में बैठी तिलस्म की प्रेतात्मा को
रक्षा कवच पिन्हा देता है ।

बहुत वक़्त गुज़र गया है, माँ !
मै अब दूध पीता शिशु नहीं हूँ,
मुझे बताओ माँ,
उस तिलस्म की चाभी कहाँ है ?

●

अगली कविता

अब मैं तुम्हें सुन्दर शब्दों से सजाकर
कोई कविता नहीं दे सकता।
मेरे पास ऐसा कोई रसायन नहीं है जो
दीमक खाई कुर्सियों को रुआबदार कि चमकीला कर दे
पर्दों का रंग जरा शोख कि भड़कीला कर दे
और एकान्त में
विश्राम की खुमारी में
माउथआर्गन की तरह बज उठे।

नहीं, मेरी कविता तुम्हारा कोई मनोरंजन नहीं कर सकती।

न उसे तुम आरती की तरह गा सकते हो
न चमेली के पुष्पहार की तरह उसे
किसी लड़की के जूड़े में ही सजा सकते हो—
मेरी कविता किसी मजदूर बस्ती की तरह
सख्त और बेरौनक है।

मैं चाहता हूँ कि मेरी कविता
तुम्हारे ज़ेहन में नागफनी के काँटों की तरह चुभ जाए
तुम्हारे गालों पर जेठ की धूप जैसी जले

और एक अधूरी लड़ाई की तरह
तुम्हारी हड्डियों में निरन्तर बजती रहे।

मैं जानता हूँ—तुम्हारे पाँवों में फ़ॉयलेरिया है
क्योंकि तुम तमाम दिन चलकर भी
एक क़दम भी नही चलते
तुम्हारी बाँहो को बाई का गवाह
यह वर्षों-वर्ष लम्बा लेटा इतिहास है
जिसे सड़ाकर
खाद बनाने के लिए तुम अब भी तैयार नही
क्योंकि तुम दिमाग़ी व्यभिचार के शिकार
एक दरबारी सिफ़लिस के मरीज़ हो।

तुम नहीं चाहते कि तुम्हारी आँख
उस धूप में खुले
जहाँ किरने तुम्हें सुरंगों के
अंधेरे और लता-मण्डपों की छाया का
फ़र्क़ बतला सकें,
तुम्हें अपनी ही जली-दागी देह दिखला सकें
जो तुमने धुले कपड़ों के भीतर छिपा रखी है
और भुला रखा है अपनी अभ्यासी हँसी के नीचे
उपवासी दाँतों की लड़ाई;
उन दाँतो की जो कभी तुमने
माँ के स्तनों में गड़ा दिए थे
क्योंकि उनमें तुम्हारी भूखी अँतड़ियों के लिए
एक घूँट भी दूध नहीं था,
बाप को सामने नहीं तो पीठ पीछे गालियाँ दी थी
क्योंकि वह न तुम्हे भरपेट रोटी दे सका
न ज़रूरत भर के कपड़े।

तुम एक नहीं, बार-बार
थोड़े से खिलौनों या रंगीन चाक-पेन्सिलों के लिए
भाई-बहिन से महाभारत कर चुके हो

और अब तुम बेकार हो
या अपमान की सड़ाँध से भरी
संस्थाओं-प्रतिष्ठानों में
कीचड़ भरी आँखें मिचमिचाते हो
जब कि तुम जानते हो कि तुम्हारा दुश्मन
न बाप था, न माँ, न भाई, न बहिन,
तुम्हारी दुश्मन यह व्यवस्था है
जिसके रतन-लाल मालिक
सिंहासन पर अपने शिकारी कुत्ते बिठाकर
तुम्हें शहतूत की पत्तियों पर
रेशम के कीड़ों की तरह पालते हैं
फिर रेशम के लिए ही
तुम्हे मौत के कड़ाहों में झोंक देते हैं ।

मगर तुम फेफड़ों में
साहबी जूतों की गन्ध पचाते हुए
सड़क के खतरों से अपने आप को बचाते हुए
दाईं-बाईं गलियों की
हिफ़ाज़त में भाग जाते हो ।

एक अरब हाथों के पाँच अरब नाखून
चाहे तो कभी भी
व्यवस्था के हिरण्यकश्यप का पेट
फाड़ सकते है
लेकिन नपुंसकता को पहले पहचान तो हो !

ना, मै तुम्हें सुन्दर शब्दों से सजाकर
कोई कविता नहीं दे सकता ।
ओ मेरे सफ़ेदपोश पाठको-श्रोताओ !
अब या तो तुम कविता के
अपने प्रतिमान बदल डालो
या आग लगे घर में
कम्बल ओढ़कर सो जाओ ।

बेताल कथा

आओ,
हम बेताल की तलाश करें
जिसके काले-बदबूदार पंख फड़फड़ाते हैं
और उगते सूरज की रोशनी को लकवा मार जाता है ;
ताज़ा हवाएँ सहमती हैं और पीली हो जाती हैं ;
बहुत कुछ कर गुज़रने की आकांक्षा से दीप्तमान आँखों पर
जम जाती है राख,
एक हताश और पराजित आत्माओं वाला जलूस
विकल्पहीन
पीठों पर उठाये हुए लहूलुहान वर्तमान
चलता रहता है गन्तव्यहीन…

आओ, हम बैताल की तलाश करें
जिसने टाँग दिया है हमारी नियति को
अनिश्चितताओं की सलीबों पर
　　　　बहुत से ओझे-औलिया दिखा चुके हैं अपने करतब
　　　　बहुत से पंडित-फ़क़ीर बाँट चुके हैं गंडे और तावीज़
　　　　बहुत से जादूगर आजमा चुके हैं मनुष्य बलि के चमत्कार
　　　　(हमने मुँहमाँगी खोपड़ियाँ उन्हें भेंट की हैं)

लेकिन कुछ नहीं हुआ—पीली आँधियों में
रक्तरँगे पंख फड़फड़ाता रहा है बैताल ।
हम लाख साँकलें चढ़ा कर बैठे हों
दहलीज़ों-कोठरियों में—लेकिन उसकी फ़ूत्कार
किसी तानाशाह के जासूस सी
हमारी हड्डियों को कँपाती रही है दिन रात······

　　　　कभी स्वप्न में, कभी संशय में, कभी सुविधाओं की
　　　　मृग-मरीचिका में
　　　　एक संभावनादीप्त समय
　　　　निर्जन सन्नाटे में दफ़न हो गया है
　　　　और वसुमति धरती पर फैलती हुई कोढ़ जैसी रेत पर
　　　　लड़खड़ाती खड़ी रीढ़हीन आकृतियाँ
　　　　समय की इतनी दर्दनाक मौत पर
　　　　स्यापा तक नहीं करतीं !

आओ, हम बैताल की तलाश करें
जिसने चारों दिशाओं की इंच-इंच हवा में
भर दिये हैं इतने मोठे-अनर्गल शब्द
कि अपनी भी यंत्रणा की आवाज़ तक सुनाई नहीं देती ।
　　　　आँखों में कमर्शियल फाइलों की स्याही
　　　　फफूँद सी जम जाए/या रूहानी वजूद
　　　　तक को झुलसा दें फ़रनेस की लपटें
　　　　लेकिन बैताल के करिश्मे की यह सिफ़त है
　　　　कि आदमी तमाचा खाकर
　　　　अपना ही मुँह नोचने लगता है !

आओ, हम बेताल की तलाश करें
जिसने शब्द कोश से उखाड़कर हर शब्द
फेंक दिया है जुआघर की टेबुलों पर
जहाँ अस्तित्वहीनता का ज्वालामुखी-अट्टहास
डूब जाता है बांझ बहसों और
नक़ाबपोश समझौतों में।

कितनी साज़िशयाफ़्ता भट्टियाँ चढ़ादी हैं बेताल ने
जिनमें उबल रहे हैं हमारे प्यार और अस्मत के फूल
झुलस रहे हैं हमारे राष्ट्रीय परिश्रम के उसूल
धुआँ हो रहे हैं हमारी सन्तति के भविष्य !

एक विषैला कुहासा
सारे वातावरण के स्नायु-मण्डल को सुन्न कर रहा है
अमेघ आकाश से झरती हैं रहस्यमय बूँदें
जिनके स्पर्श मात्र से
परशुरामी संकल्पों से तने बाजू
हिलने लगते हैं कुत्तों की पूँछ की तरह।

एक नहीं, दो नहीं,
हज़ार अध्यायों से गुज़री है बेताल-कथा।
इतने अन्तर्विरोधी हो गए हैं प्रतीक और साक्ष्य
कि न्याय-अन्याय के बीच कोई तर्क नहीं रह गया
किसी भी संस्था या वेश्यालय में
कोई फ़र्क़ नहीं रह गया।

आओ, हम असंख्य चेहरों वाले
बेताल की तलाश करें।
अनुभवों ने सिखाया है
कि उसके पैर उलटे हैं
और आवाज़
खाली बर्तन सी बजती है।

कुरुक्षेत्र

मेरा विश्वास बौना नहीं है ।

जब अपना दुख
आदिवासी अँधेरों से
शहरी उजालों तक   एक दर्पण हो जाए
यातनाओं के चिह्न और
हवाओं में क्रुद्ध बाज जैसे मँडराते
पैने मुहावरों के अर्थ
एक जैसे सुर्ख हो जाएँ
तो मरे हुए दिन   कब्रिस्तान, नहीं
शहीद मीनार रचते हैं
लिखते हैं खंडित क्षण   सूर्यों की जन्मकथा
कुहासे के हरकण में एक गुरिल्ला-आँख
धधकती है
और मुझे मेरा विश्वास बौना नहीं लगता ।
[मैंने चाहा था रजत-मीनारों में

अपनी कामनाओं के वसन्त-पर्व जीना,
मैंने चाहा था पैतृक परम्पराओं को
मिथुन लग्न की बेहोशी में ढोना,
मैंने चाहा था मानसरोवर जैसे दोस्त
और जादुई चिराग़ जैसी क़लम,
मैंने बहुत कुछ चाहा था···]

अब स्वीकारता हूँ/ मेरी चाह मेरी न थी
जो कुछ था घिनौने अपराधियों का जाल था
एक साज़िश थी मुझे अपनेपन से
अपने देश, समाज और समय से अलग करने की
एक रास्ता था जहाँ अपराधी न बनने का विकल्प
ग़ुलाम होना था
जिसकी ज़िन्दगी में मिथुनलग्न हथकड़ी होता है
दोस्त हुआ करते है सेमल का फ़ूल
और क़लम लिखती है वे दुखद आश्चर्य
कि आदमी न जीने की स्थिति में भी
कितने दिन जीता है!

एक जले हुए नगर की तरह
एक साथ उभरता है हादसों का सिलसिला
माँ के दूध से लेकर सेठ की रोटी तक
ठोस दिखती चट्टानों का
दलदल हो जाना देखा है,
चेहरे को धुआँ पिछाकर
हथेलियों पर उगे दीपक का
तिजोरियों में खो जाना देखा है,
तिजोरियाँ: जो बैंकों और अखबारों की पहरेदारी में
छीन लेती हैं गंगा और गोदावरी का सुहाग,
झुका देती हैं गगनदर्पी हिमालयों का स्वाभिमान,
फाड़ देती हैं क़ुरआन और उपनिषदों के रक्षाकवच···
इतना जटिल है व्यक्तिगत पूँजी का अपराधचक्र

कि रिश्वत और रामायण का अर्थ एक हो जाता है।
स्कूल और प्रयोगशालाएँ गढ़ती हैं
दोगले आइनों का सन्निपात,
संविधान रचता है कपटों के लाक्षागृह,
और प्रतिनिधि सभाएँ
द्रौपदी के चीरहरण पर हर रोज बहस करती हुई
राजकीय सहभोजों में शामिल हो जाती हैं।

अपहरण के आम कानून के बीच
जहाँ जिन्दगी हर वक्त
जुए के दाँव पर चढ़ाई जाती हो
तो आदमी प्यार और उदारता की बातें कैसे सोच सकता है
सोचने को रह जाता है केवल पेट
और यह कि आदमी का सोच केवल पेट तक
कैसे महदूद रह जाता है!

सोच ही था
कि मैंने
काली तिजोरी के जबड़ों में
रक्ताक्त फँसी धरती पर
आरोपित इच्छाओं को मशीनों की आग में झोंक दिया
और पढ़ना शुरू किया
उत्पादन की हजारों सीढ़ियों पर
मेहनतकश आदमी के पसीने के निशान,
पढ़ना शुरू किया सभ्यता की मोटी किताबों में
उसके बलिदानी रचयिताओं के नाम,
वसीयतनामे में उनका मूल्यांकन,
उनका हिस्सा, उनका मुकाम···

वह तो कहीं नहीं है/ कबूतर की जिन्दगी की
दुआ माँगने वाले व्यवस्था-विधायकों ने
नहीं छीनी केवल उनकी हड्डियों की कूवत,
उनके प्राणों की उमंग

उनके दुधमुहे चिरागों की सम्भावना
बल्कि सभ्यता और संस्कृति के दस्तावेज़ से
उनका नाम तक गायब कर दिया।

इन्तहा से गुज़र गया है
क़दम दर क़दम बिखरते जाने का अहसास।
रोटी के, प्यार के, सम्मान के,
सामाजिकता के मोर्चों पर लगातार हारकर
मेरी खून उगलती पुतलियाँ अब
आदिवासी अँधेरों से शहरी उजालों तक
सामूहिक मोर्चे की तलाश करती हैं।

मेरा विश्वास बौना नहीं है।
इस अन्धी गुफ़ा की दीवालों पर लटकी
मरे हुए दिनों की लाशें दस्तावेज़ हैं—
अल्पमत की हुकूमत का परिणाम है यह अँधेरा
एक दिन टूटेगा बहुमत पर छाया हुआ
परोपजीवी ईश्वर का झूठा विश्वास,
एक दिन टूटेगा बहुमत के गले से
झूठी कमज़ोरी का पहना हुआ तौक,
एक दिन उतरेगा फ़रेबी अपराधियों के
चेहरों पर चढ़ा हुआ रामनामी मुखौटा,
उस दिन भाग्य की कथाओं का अन्त होगा।
उस दिन नहीं नाचेंगी
मठाधीश मसीहों की हथेली पर
लोकोत्तर मुक्ति की गंगाएँ,
उस दिन नहीं गूँजेगी
आश्रमों-विहारों में
बुद्ध और गाँधी की कारुणिक कथाएँ।

उस दिन सिर्फ़ गूँजेगा हवाओं में पांचजन्य।
गली - गली कुरुक्षेत्र ही होगा धर्मक्षेत्र॥
[रचनाकाल, १९७०]

यह सब कैसे हुआ

अपने कर्तव्य के प्रति सचेत
मैं कर्तव्यच्युत हो गया।
काले धन्धों को छुड़ाता हुआ मैं
खुद धन्धों की पनाहगाह में सो गया
कि सो जाना या जागरण के अहसास से
छूट जाना—जिये जाने के लिए
ज़रूरी साबित हुआ।

यह सब कैसे हुआ
कि हर अच्छे विचार का अन्त
दुखद परिणाम में हुआ ।
पहचाने—जो नये दिनों का सिलसिला
बुन सकती थीं
अहसास—जो सार्थकता की सुगन्ध हो सकते थे
सबके सब कच्चे रंगों की तरह उड़ गए
लक्ष्य और संकल्प
खाली पीपे ढोती हुई क़तार से मुड़ गए ।

यह सब कैसे हुआ
कि शहद के छत्तों के नाम पर जमा हुए मोर्चे
अपने-अपने हक़ का दायरा बढ़ाते हुए
लहू लुहान हो गए !
रीछ पहले की तरह निर्द्वन्द
शहद खाते रहे
गाँवों से टिड्डियों के पहाड़ गुज़र जाते रहे
नगर की आबादियाँ सफ़ेद बूटों तले
तिलचट्टों की तरह पिसती रहीं
नीले नाखूनों से क्षत-विक्षत
मांसपेशियाँ गन्धक के जखीरों सी सुलगती रहीं
लेकिन अदालत में पेश हुई जीभें
अनजान होने की साफ़ क़सम खा गईं !

यह सब कैसे हुआ
कि एक साथ दुहराई गई कसमें बिखर गईं,
एक साथ चुने हुए रास्ते बदल गए,
लोक और न्याय की ज़मीन तलाशने वाले हाथ
शहीद मीनारों पर फूल चढ़ाकर
अपनी-अपनी जेबों में लटक गए !

[रचनाकाल १९७१]

स्वीकारोक्ति—१

मैं खुलेआम
अपनी असफलता को स्वीकार करता हूँ।

गवाही है यह ज़िस्म, ज़िस्म के हिलते हुए हिस्से
हिस्सों का निचोड़—एक प्रकाश स्तम्भ
जिसके संकेतों की सरहद में
'ज़िन्दाबाद' के सायरन बजाते हुए
तमाम जहाज़ एक दूसरे से टकराकर नष्ट हो गए।
नष्ट नहीं हुईं तो वे नुकीली चट्टानें-जो
पानी के आवरण से
घात करने की अभ्यस्त हैं।

मुझे कुतर्क में नहीं फँसना :
मेरे खेमे के लोग
चाहें तो युद्धरत होने के दम्भ में जिएँ
बात-बात में, बहस में, बहस भरी कविता में
अपने शब्दों से दुश्मन गढ़ें
सिगरेट से उन्हें जलाएँ/ चाय और काफ़ी में डुबाएँ
सुरक्षित कमरों में युद्ध की उत्तेजना का ज्वार
उन्हें खुश रख सकता हो तो वे रहें।
मुझे मालूम है अपने मंच-नायक की सीमा का विस्तार।
पान का बीडा चबाकर
थूक में जीनेवालों का प्रतिनिधित्व करना,

और त्याग के नाम पर उगाहे गए ख़ून को
पेट्रोल बनाकर फूँक देना
मेरे युग का विलक्षण चरित्र है।

मैं इसलिये नाकामयाब नहीं रहा
कि दुश्मन बहुत ताक़तवर था—
[किसी भी किले की दीवारें
सड़कों-गलियों की ईमानदार ताक़त का
सामना नहीं कर सकतीं]
दरअस्ल दुश्मन के किले के गुप्त द्वारों से कहीं अधिक
चोर दरवाज़े मेरे अपने ही खेमे में थे।
दुश्मन को भरोसा था अपने ही स्वार्थ का,
मैं अपने और अपनी माटी के स्वार्थ के बीच
पेन्डुलम की तरह घूमता रहा,
मेरे चेहरे का सूरज
अँधेरे की साज़िश से संधिबद्ध था।

मेरे पास शब्द थे : संगीन भी थी
लेकिन मैंने शब्दों का अर्थ बहुत उथला जिया,
बचाता रहा हूँ अपने आपको उस चक्रवात से
जिसके मध्य गुज़रना जरूरी था सही अर्थ जीने के लिए।
और संगीन !
संगीन उठाने के पहले
दर्द और दुश्मन को पहचानना ज़रूरी था
ज़रूरी था अपने भीतर छिपे
दर्द के दुश्मन को मारना…
(दूसरों की हत्या तो डाकू भी कर दिया करते हैं)

दरअस्ल मैं बेर बोता हुआ बबूल साफ़ करता रहा।
दूसरों के दोष गिनाकर
अपने आपको माफ़ करता रहा।

[रचनाकाल—१६७२

स्वीकारोक्ति—२

बाहर इतना अँधेरा है
कि हम घर के भीतर दुबक आए,
खुले आकाश के नीचे ठहरना या
रोशनी की तलाश करना
हमारे चरित्र में नहीं है।
रोशनी तो भीतर भी नहीं है
है तो एक दहलीज़
जहाँ सन्नाटा हाँफता है
एक नन्हा आँगन—
जिसमें कुछ भी समा पाता नहीं,
न आँखों भर आकाश न बाँहों भर हवा
न चिड़ियों की चहक··· हाँ—कोई तारा टूटता है
तो एक तेज़ लकीर सी रोशनी काँध जाती है
जिसमें कभी हम—
अपने होने को महसूस करते हैं
कभी अपने न होने की सर्द उदासी में डूब जाते हैं।

निरापद यहाँ भी नहीं है।
सिसकियाँ उभरती हैं एक कमरे से
विद्रूप की हँसी हँसता है और कोई
कोई कमरा चीखता है और चीखता चला जाता है
फिर अचानक सन्नाटा उतर आता है
हम जैसे घायलों के अस्पताल में खड़े हों—
या खड़े हों पराजित युद्ध भूमि में।

हम कहाँ जाएँ !
अंधकार में बाहर निकलना
हमारे चरित्र में नहीं है,
न भीतर निरापद रह सकना
हमारे नसीब में है।

स्वीकारोक्ति—३

तुम और कितनी चोट दोगे !
दो ।
हम टूटेंगे नहीं ।
हड्डियाँ इस्पात की नहीं हैं,
ये लचकती हैं ।

हमें खुद को पता नहीं था
कि हम इतना झुक सकते हैं !
ज़मीन में फ़ासिल्स की तरह
चिपक कर भी ज़िन्दा रह सकते हैं ।

हमने एक दिन कहा—
हम हथकड़ियाँ नहीं पहनेंगे ।
तुमने हथकड़ियाँ उतारकर
हमें चूड़ियाँ पिन्हा दीं···
हमने फिर कहा—
हम अँधेरा नहीं सहेंगे ।
तुमने हमारी पुतलियाँ निकालकर
बिजली के खंभों पर लटका दिया···
हमने पेट की तरफ़ इशारा किया
तुमने हमारी अँतड़ियों को
फ़ाइलों के सुपुर्द कर दिया···
हमने हर रोज़ कुछ न कुछ कहा ;
तुमने हर रोज़ कुछ न कुछ किया ;
यह बात अलग है कि हमने जल माँगा
तुमने होठों पर रेगिस्तान धर दिया ।

तुम और कितनी चोट दोगे !
दो।
हम टूटेंगे नहीं !
तुम्हें विश्वास है हमारी सहन शक्ति पर,
हमें आश्चर्य है अपने जिये जाने पर !

कई बार हमने महसूस करना चाहा है—
अब ऊपर सिंह, तले खाईं है
इतना हम झुक गए अब आगे और नहीं
अब सोया खून स्वयं जागेगा
अपने ईमान को पहचानेगा
पानी खौलेगा, हवा सुलगेगी
एक पीढ़ी अब शहादत के लिए उठेगी
नई सुबह के साथ नया काल मुस्करायेगा
नहीं तो गली-सड़कों पर
महाकाल सिर उठायेगा···

लेकिन हमारी पीठ कच्छप है
और हड्डियाँ रबर···
हम हर चोट पर झुकते हैं, टूटते नहीं
कभी गीली मिट्टी में केंचुए की तरह धँस जाते हैं
कभी पालतू सुअरों की तरह
तुम्हारे मकान की गन्दी नालियों में घुस जाते हैं
हम खड़े होते हैं तुम्हारे झंडे का बाँस होकर ही
इकट्ठे होते हैं तो तुम्हारी शह पाकर
तुम्हारे इशारों पर भेड़ों की तरह बिखर जाते हैं।

अपने आप तो हम कुछ नहीं करते
सिवा इसके कि
तुम्हारी निन्दा करने का अधिकार माँगते हैं,
तुम्हारी चोट पर लचक जाना
और तुम्हारी कृपा पर जिये जाना चाहते हैं।

लिफ़ाफ़ा बन्द उजाला

तुमने अपनी भाप भर उजाला
लिफ़ाफ़े में बन्द कर मुझे
पकड़ा दिया।
तुम चाहते हो—मैं इतनी सी रोशनी में
देखूँ, जिऊँ, जीता रहूँ।

मैंने सूरज की ओर देखना चाहा
तुम्हारी भवें तन गईं ;
मैंने आकाश की ओर निहारा

तुम आशंकित हो गए ;
मैंने धरती के विस्तार को देखा
तुम क्रुद्ध हो गए ।

तुम चाहते हो मैं अपनी काया को
तुम्हारी मर्ज़ी और तुम्हारे लिफ़ाफ़े
तक सीमित रखूँ ।
तुम्हारा लिफ़ाफ़ा
मेरा भूगोल है और इतिहास है—
मेरी सभ्यता और संस्कृति है ।
मैं लिफ़ाफ़े को खोलूँ
रोशनी निकालूँ
उसे आइने की तरह हथेली पर रखूँ
और अपनी औकात का
अक्स देखूँ ।

मैंने यही तो किया है आज तक,
अपने प्रतिबिम्ब को
सिकुड़ता-निचुड़ता देखा है आज तक,
लेकिन
अब—जब
मेरे और मेरे अपनों के बीच
प्यार और वैमनस्य की रस्साकशी चल रही है
और डाक्टरों के नुस्खे में
आराम और चिन्ताहीनता की
शर्तें लिखी जा रही हैं
मेरी आँखें तुम्हारे
दिए हुए उजाले में
एक और बिम्ब देखने लगी हैं ;
एक और बिम्ब—
आदमकद नंगा, जैसे
कोई नरभेड़िया खड़ा हो ।

आवाज़

सारे शहर के लोग कहते हैं—
उन्हें एक आवाज़ सुनाई पड़ती है—
किसी पुल के टूटने की आवाज़ से
ज्यादा खौफ़नाक
एक चुसी हुई हड्डी पर लहू-लुहान गुर्राहट से
ज्यादा वीभत्स
अचानक ट्रेनों के लड़ जाने के धमाके से
ज्यादा दहशत भरी,
उन्हें हर समय एक आवाज़ सुनाई पड़ती है।

लोग भागते हैं
बाज़ारों में पैठते हैं
ऑफ़िसों-कारखानों में खोजते हैं पनाह
भीड़ों में भेस बदलते हैं
फिर दौड़-दौड़ कर गाड़ियाँ पकड़ते हैं,
लेकिन
घर के दरवाज़े से दूर

अपनी जेबों की जिरहबन्दी में
पस्त, खड़े रह जाते हैं…

माताएँ एक ही सन्दूक को बार-बार
खोलती, बन्द करती हैं
बच्चों को मामूली ज़िद पर पीट देती हैं
फिर उन्हें गोद में खींचकर
रोने लगती हैं…

आजकल अख़बार से ज़्यादा ख़बरें
हर घर में तैयार हो रही हैं—
कि बड़े-बूढ़े नाती-पोतों को दुलारते हुए
भगवान से अपने लिए मौत की दुआ माँगते हैं,
कि घर में जितने सदस्य हैं : उतने ही मंच हैं,
कि रिश्तेदार भाषा की शतरंज खेलना सीख रहे हैं,
कि कुनबे वालों ने कुनबे वालों को ही
अवैध सन्तान घोषित कर दिया है,
सबसे बुरी ख़बर यह कि जवान बेटा
बहिन की साड़ी चुराकर
शहर की बदनाम गली की ओर
भाग गया है…

लोग झंडों-नारों-जुलूसों को देखते हैं
तरह-तरह के कोल्हुओं में जुते हुए
मृग जल सी चमकती तेल की धार में
अपना भविष्य पढ़ते हैं
और आवाज़ें सुनकर चौंकते-ठिठुर जाते हैं—
जैसे कोई साँप फुफकार रहा हो,
जैसे टिड्डियों का दल
आकाश से गुज़र रहा हो,
जैसे कोई क्रुद्ध भैंसा खुरों से
ज़मीन खूँद रहा हो…

भोजन के हर दाने के साथ
पानी की हर बूँद के साथ
उसे बोलियाँ सिखाई गईं।
मैना ने मन-पसन्द बोलियाँ सीख ली।
मैना—ताज्जुब की हद तक
अपनी खुद की बोली भूल गई।

मैना सचमुच भूल गई है—
अपने जन्म-नीड़ की बोली
हवा के झकोरों पर झूलते
फूलों-फलों की बोली
अकाल में कराहते / कि बाढ़ में
विलुप्त होते खेतों-खलिहानों की बोली
हज़ारों-हज़ार संगी-साथियों के साथ
उड़ान भरती हुई खुली आँखों—
खुले आकाश की बोली ;
मैना भूल चुकी है
अपनी आज़ादी की बोली !

अब मैना ने पिंजड़े का व्याकरण
सीख लिया है
स्वागतम् कहना
शुभकामना देना सीख लिया है।
पिंजड़े की मज़बूत पहरेदारी
और रुपहली कटोरी में
जेवना के बदले
मैना ने—मेरे मालिक
रानी माँ
राजा मुन्ना
कहने का शऊर सीख लिया है
मैना ने 'सलाम हूज़ूर' कहना
सीख लिया है।

घंटों लम्बे हो जाते हैं।
माचिस जलाकर घड़ी
देख तो सकते हैं—लेकिन नहीं
घड़ी तो जेब में है
क्या पता—पास से गुज़रने वाला
छिनताई का इरादा रखता हो!
क्या पता, सिपाही की वर्दीवाला
आदमी डाकू हो!
क्या पता सफ़ेद दस्ताने वाले हाथों में
स्याह खंजर हो!
क्या पता, हमें खतरे में देखकर
हमारी कुशलता पूछने वाले चेहरे
पीछे मुड़ जाएँ!
क्या पता, कोई बेपरवाह मोटरकार
पेवमेन्ट पर हमें कुचलकर बढ़ जाए!
और पोस्ट-मार्टम करने वाला डाक्टर
और देश का क़ानून
दुर्घटना का सही कारण तक
जानने में असमर्थ हो जाए!

यह कोई
आश्चर्य की बात नहीं है
अँधेरे में बहुत-सी घटनाओं के कारण
साफ़ नहीं हो पाते
मसलन इसका क्या कारण है
कि आजकल मेरे दिमाग़ में
बुरे ख्याल ही पैदा होते हैं!

लोग कहते हैं—उजाला और अँधेरा
एक ही सिक्के के दो पहलू हैं
कहीं अँधेरे में फैलता हुआ ज़हर
उजाले में चुभे दाँतों का तो नहीं है!

कुछ भी तो नहीं देती कविता
न कोई आह्वान करती सुबह
न सन्तुष्टि आँकती धूप
न विश्राम देती शाम !

हाँ, क्या देती है कविता मुझ को—
एक आकाशदेही दरपन—गुज़रता है
जिसके भीतर से एक पूरा समय
हिप्पियों की पोशाक में,
अक्सर आदमक़द नग्न
हशिश पीकर ऊँघता हुआ   आँखों में
अपनी ही मृत्यु का विराट भय जीता हुआ

(इतने बड़े भय को सामने रखकर
संयत और लापरवाह होकर जीना
कैसी कापुरुष-महावृत्ति है !)

न जाने क्यों मेरे भीतर
पहाड़ से धकेले हुए हाथी की चीत्कार
गूँजती है
थम जाता है रक्त प्रवाह,
निश्चल पुतलियों पर
गड्ड-मड्ड हो जाते हैं—

हजारों कीड़े और भिखमंगे
पुलिस और पतिंगे
सिरों को यत्न से जेबों में सँभाले कार्यालय
योनियाँ और स्तन सजाये हुए बाज़ार
नौटंकी के मंच और न्यायालय
अफ़ीमखाने और सचिवालय···
मैं अपनी कविता का दरपन किस को पकड़ा दूँ !

खुद को !

ना

अपने आप को व्यक्त करने के लिए
दुनिया की तमाम कविता नाकाफ़ी होती है।

दर्द···कष्ट···पीड़ा···
कोई शब्द समूचा बोध नहीं देता
एक आवाज़ है···गों···गों
कुएँ के भीतर से उभरती हुई जिसकी
गूँज-प्रतिगूँज में ध्वनित हो रहा है मेरा
स्खलित
अहम्···अस्तित्व···

यह दरपन कोई नहीं स्वीकारना चाहता ;
अपने दुख का सामना कोई नहीं करना चाहता ;
दरअस्ल लोग
अपने निकटतम के
लहू-लुहान
निज से
बचना चाहते हैं

भीड़ों में, शोर में, जुलूसों में
अपने खालीपन को भरना चाहते हैं।

कविता फ़िलहाल किसी के लिए नहीं है
यह तो अब कवि के लिए भी
शराब की बोतल है या रक्तचाप की बीमारी
या प्रलाप करती हुई
निर्वसना रात

हर आदमी को जीने के लिए
कोई न कोई बहाना तो चाहिए ही।

सीपियाँ—समय की हथेली पर

लो, अब तो सागर
स्वयं उछाल गया है वे सीपियाँ
जिन्हें परखने के लिए तुम बेताब थे ।

कितना आसान हो गया है तुम्हारा काम
न किसी खास चश्मे की ज़रूरत है
न मास्क चढ़ाने की

न दिशान्ध करता हुआ समुद्र-फेन है
न आँधियों पर सवार लहरों का प्रतिरोध ।

अब कहीं तुम्हें अन्तर्वर्ती जलधाराओं से
जूझना नहीं है
जिनके विसंगत प्रवाहों में
कितनी ही बार असफल हो चुका है
तुम्हारा साहसिक अभियान ।
कोई ऑक्टोपस एक काला रहस्य
फेंकता हुआ
तुम्हारे सामूहिक विवेक को चुनौती देता रहा है
और तुम युग-युग से सँजोये हुए
सूर्यमुखी सपनों को जल-समाधि देकर
सीपियों के तिलस्म से वापस
लौट जाने को विवश होते रहे हो ।

अब तो सागर स्वयं उछाल गया है वे सीपियाँ ।
देखो, यहाँ-वहाँ, कहाँ-कहाँ तक
बिखरी हैं सीपियाँ
जैसे रेत में धँसी हुई
सफ़ेद, काली, पीली टोपियाँ औंधी पड़ी हों ।

अब न तुम्हें किसी भाग्यवक्ता की ज़रूरत है
न गणितज्ञ की/किरणों के आतशी शीशे में
खुद ब खुद सारा रहस्य खुल रहा है—
हर सीपी का सुरक्षाक-वच टूट रहा है ।

एक-एक सीपी को उठाओ
हथेली पर रखो और परखो
किसमें मोती है, कौन बाँझ है
अगर अब भी तुम्हें धोखा हुआ तो
समझ लो, सीपियाँ नहीं
तुम खुद अपने-आपको छल रहे हो ।

दरपन

मुझे खुद भी पता नहीं
इतनी ऊँचाई पर टंगा दरपन
कैसे टूट गया !
किसी एक क्षण में टूटता
तो किसी दुर्घटना की तरह
जरूर मैं इसके टूटने की वजह
जान पाता !

शायद कभी दरपन पर झरे हुए केशों
जैसी दरारें पड़ी होंगी / जो
बढ़ती गईं
मुझे ख्याल भी नहीं आया और
अब
सारा दरपन सैकड़ों खण्डों में
दरक गया है।

देखता हूँ—कैसे सारा कमरा
अजीब हास्यास्पद और
शोकान्तक बिम्बों में उभर रहा है—
मेज़ पर रखी किताबों-कॉपियों को

जैसे निर्ममता से फाड़ा गया हो,
क़लम टूट कर टुकड़ों में खड़ी है,
दरवाज़ों-खिड़कियों में
अनगिनत दरारें हैं,
दीवारों में इतने छेद और कटाव
दिखाई पड़ते हैं कि यह छोटा सा
मकान किसी भी क्षण ढह सकता है।

सामने दीवार पर लटके कैलेण्डर की
कोई भी तारीख़ साफ़ दिखाई
नहीं देती
और चित्र—सब के सब
विकलांग हो चुके हैं
—गाँधी का सिर्फ़ चश्मा है,
आँखें नदारद,
गुरुदेव टैगोर का सीना और ललाट
दोनों ग़ायब हैं,
सिरकटी सरस्वती शून्य में उड़ रही है,
कबीर और प्रेमचन्द विक्षिप्त
दिखाई देते हैं,
ख़ूबसूरत फ्रेम में मढ़ी तस्वीर में
पत्नी और मेरे बीच
एक लम्बी दरार पड़ गई है,
और बच्चों के चेहरे या तो
भयभीत लगते हैं या
मुझे घूरते हुए !

क्या कोई बच्चा किसी तरक़ीब से
यह दरपन उतारेगा
और उसकी जगह
एक सही-साबित
दरपन टाँग देगा ?

जंगल-यात्रा

जंगल कितना ही विस्तृत
और भयानक हो
तुम्हें पार तो करना ही होगा
तुम कोई पत्थर-चट्टान तो
नहीं हो सकते ना !

हाँ, तुम्हें सावधान होकर चलना होगा
कोई भी क्षण घातक हो सकता है
जंगल का ।
पेड़ निरीह ही नहीं होते
शिकारी होते हैं पक्षी भी
शेर-बाघ से ज़्यादा खतरनाक होते हैं
वे जीव-जन्तु
जिन्हें अक्सर अनदेखा कर दिया जाता है
और फिर क्या पता—किसी खास
वनखण्ड से जब तुम असतर्क
गुज़र रहे हो
नितान्त पनियल पेड़-पौधों में
अपनी ही खाड़ से आग लग जाए
और तुम बीच में फँस जाओ
क्या करोगे ऐसी हालत में तुम !

अगर तुम बच गए
तो क्या इस आग की लपटें-चिन्गारियाँ
तुम्हें कोई रास्ता सुझा सकती हैं !
होने को तो सूरज-चन्द्रमा से ज़्यादा कारगर
हो सकते हैं इस आग के संकेत
लेकिन सबसे ज्यादा मददग़ार तो
अपनी ही आँख होती है
क्या तुम्हें पक्का भरोसा है
अपनी आँखों पर !

अगर तुम्हें विश्वास है अपनी
आँखों पर
तो इस जंगलयात्रा में भी
तुम्हें सहयात्री मिल सकते हैं
तुम्हारे जैसे ही सहयात्री मिल सकते हैं
क्या तुम सचमुच इस यात्रा के प्रति
प्रतिबद्ध हो !

●

हरे रंग

मेरे कमरे के पीछे जंगल है
जंगल में तरह-तरह के घास-पौधे हैं
पौधों पर छाये हुए तरह-तरह के
हरे रंग
मुझे नाम नहीं मालूम—न घास-पौधों के
न हरे रंगों के,
लेकिन लगता है—मेरा इन रंगों से
कोई बहुत गहरा रिश्ता है।

जब भी कमरे में अकेला होता हूँ
ये रंग मेरी आँखों में पैठते हैं
रोशनी देते हैं
मुझसे मौन बातें करते हैं ये हरे रंग
ऊपर फैले अनन्त आकाश की
बादलों की, कभी भी समाप्त न होने वाले
सूर्यालोक की।

ये रंग आत्मसात होते हैं मुझमें
और उदास निर्गन्ध हवाओं का
काया-कल्प होता है
हताश चट्टानें दरकती हैं
मेरी धमनियों में ताज़ा खून
गुनगुनाता है।

जैसे सपने रूप धारण करते हैं
सूखी झील में सोते फूटते हों जैसे
वैसे ही हरे रंगों में
मेरा पुनर्जन्म होता है।

नीलम श्रीवास्तव

जन्म	:	26 सितम्बर 1935, रायबरेली (उ० प्र०)।
सम्पादन	:	नवागत (पाक्षिक पत्र)
कविता संकलन	:	विक्रान्त (1969)
सम्प्रति	:	दि फ़ोर्ट विलियम कं० लिमिटेड कोन्नगर (हुगली) में कार्यरत
सम्पर्क	:	6-ए, जी० टी० रोड, कोन्नगर (हुगली) प० बंगाल।